

प्रश्न : क्या बिना मनुष्य से प्रेम किए कोई सत्य से प्रेम कर सकता है? बिना सत्य से प्रेम किए क्या कोई मनुष्य से प्रेम कर सकता है? पहले-पहल क्या है?

कृष्णमूर्ति : निश्चित ही सर, पहले-पहल प्रेम है। क्योंकि सत्य को प्रेम करने हेतु आपके लिए सत्य को जानना आवश्यक होगा, और सत्य को जानना इसे नकार देना है। जो ज्ञात है, वह सत्य नहीं है, क्योंकि ज्ञात तो समय के आवरण में ही होता है, अतएव वह सत्य नहीं रह जाता। सत्य तो सतत गतिमान है, इसलिए समय या शब्द इसका पैमाना नहीं बन सकते, यह आपकी मुट्ठी में नहीं बंध सकता। तो सत्य को प्रेम करना सत्य को जानना है--आप किसी ऐसी चीज़ से प्रेम नहीं कर सकते, जिसे आप जानते न हों। लेकिन सत्य को पुस्तकों में, मूर्तिपूजा में, मंदिरों में नहीं पाया जा सकता। इसे तो कर्म में, जीने में, सोचने में पाया जाता है; इसलिए ज़ाहिर है कि पहले तो प्रेम ही है, अज्ञात की खोज अपने आप में ही प्रेम है, और अन्यों से संबंधित हुए बिना आप अज्ञात का अन्वेषण नहीं कर सकते। खुद को किसी एकांत में अलग-थलग करके आप यथार्थ, ईश्वर या जो कुछ भी है, उसको नहीं खोज सकते। आप अज्ञात को केवल संबंध में ही, जब मनुष्य मनुष्य से संबंधित हो, तभी खोज पाते हैं। अतः मनुष्य से प्रेम ही अज्ञात की खोज है।

बिना मनुष्य से प्रेम किए, बिना मनुष्यता से प्रेम किए यथार्थ की कोई खोज नहीं हो सकती, क्योंकि जब मैं आपको जानने लगता हूँ--कम से कम जब मैं संबंध में आपको जानने की कोशिश करता हूँ--तो उस संबंध में ही मैं स्वयं को जानना आरंभ कर देता हूँ। संबंध एक आईना है, जिसमें मुझे अपना पता चल रहा है, अपने 'उच्चतर' स्व का नहीं, बल्कि मैं स्वयं की समग्र, पूरी की पूरी प्रक्रिया को देख-समझ पा रहा हूँ। 'उच्चतर' स्व और 'निम्नतर' स्व मन के ही क्षेत्र की चीज़ें हैं; और बिना मन को समझे, बिना विचारक को समझे मैं विचार के परे कैसे जा सकता हूँ, और अन्वेषण कैसे कर सकता हूँ? वह संबंध ही यथार्थ की खोज है, क्योंकि वही स्वयं से मेरा एकमात्र संपर्क है, अतः संबंध में स्वयं की समझ ही निश्चित रूप से जीवन का आरंभ है। यदि मैं यह नहीं जानता कि आपसे कैसे प्रेम करूँ, आपसे, जिसके साथ मेरा संबंध है, तो मैं कैसे यथार्थ की खोज कर सकता हूँ, और इसलिए कैसे यथार्थ से प्रेम कर सकता हूँ? आपके बिना मैं नहीं हूँ, क्या हूँ? मेरा अस्तित्व आपसे पृथक नहीं हो सकता, मैं पृथकता में, अलगाव में विद्यमान नहीं रह सकता। इसलिए हमारे संबंध में, उस संबंध में जो आपके और मेरे बीच है, मैं खुद को समझना शुरू कर रहा होता हूँ, और स्वयं को समझना ही प्रज्ञा का आरंभ है। अतः यथार्थ की खोज संबंध में प्रेम का प्रारंभ है। जिससे प्रेम करना हो, आपको उसे जानना होता है, समझना होता है, है न?

आपसे प्रेम करने के लिए मुझे आपको जानना होगा, मुझे पूछना और पता लगाना होगा, मुझे आपकी सभी मनोदशाओं, आपके बदलावों के प्रति ग्रहणशील होना होगा, स्वयं को अपनी ही महत्त्वाकांक्षाओं, लक्ष्यों और लालसाओं के दायरे में बांधे रखने से तो बात नहीं बनेगी। और आपको जानने में ही मैं अपने आपको बूझ रहा होता हूँ। आपके बिना, मैं हो नहीं सकता; और अगर मैं आपके और अपने बीच उस रिश्ते को नहीं समझ पाता, तो प्रेम कैसे हो सकता है? और निश्चित ही, प्रेम के बिना कोई खोज नहीं होती, होती है क्या? आप यह नहीं कह सकते कि हमें सत्य से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि सत्य से प्रेम करने के लिए आपका सत्य को जानना ज़रूरी है। क्या आप सत्य को जानते हैं? क्या आप जानते हैं कि यथार्थ क्या है? जिस क्षण आप कुछ जान लेते हैं, वह निबट चुका होता है, है न? वह समय के क्षेत्र में आ चुका होता है, अतएव सत्य नहीं रह जाता।

हमारी समस्या यह है : एक शुष्क हृदय, एक रीता हृदय सत्य को कैसे जान सकता है? नहीं जान सकता। सत्य ऐसा कुछ नहीं है, जो सुदूर कहीं हो। यह बहुत पास है, लेकिन हम जानते नहीं कि इसे ढूँढ़ें कैसे। इसे ढूँढ़ने के लिए हमें संबंध को समझना होगा, न केवल मनुष्य के साथ संबंध को, अपितु प्रकृति के साथ, विचार के साथ अपने संबंध को भी समझ लेना होगा। मुझे इस धरती के साथ अपने संबंध को, तथा उद्भावना, कल्पना के साथ संबंध को, एवं साथ ही आपके साथ अपने संबंध को समझ लेना होगा; और संबंध को समझने के वास्ते यकीनन एक खुलेपन की ज़रूरत होती है। यदि मैं आपको समझना चाहता हूँ, तो मुझे आपके प्रति अवरोधरहित होना होगा, ग्रहणशील होना होगा, मुझे आपसे कोई छिपाव-दुराव नहीं रखना होगा, अलगाव का कोई सिलसिला नहीं रह सकता है। समझ में ही सत्य है, और समझने के लिए प्रेम होना चाहिए, इसलिए कि प्रेम बिना समझना तो हो ही नहीं सकता। अतः मनुष्य अथवा सत्य नहीं, पहले-पहल तो प्रेम ही होता है, और प्रेम का उद्भव संबंध को समझने में ही होता है, जिसका अर्थ है कि हम संबंध के प्रति खुले, अवरोधरहित हों, अतएव यथार्थ के प्रति अवरोधरहित हों। सत्य को निमंत्रित नहीं किया जा सकता, इसे स्वयं ही आप तक आना होता है। सत्य की तलाश करना सत्य को नकारना है। सत्य आप तक तब आता है, जब आप खुले, बिना किसी अवरोध के होते हैं, जब आप पूरी तरह, किसी भी रोक-रुकावट से रहित होते हैं, जब विचारक विचार करने में रत नहीं रह जाता, अपनी सृष्टि और निर्माण नहीं कर रहा होता, जब मन बिलकुल स्थिर, निश्चल होता है--बाध्य होकर नहीं, नशे में डूबकर नहीं, शब्दों द्वारा, पुनरावृत्ति द्वारा सम्मोहित होकर नहीं। आना सत्य को ही होता है।

जब विचारक सत्य के पीछे भागता है, तो वह सिर्फ अपने फायदे के पीछे ही भाग रहा होता है। इसलिए सत्य उसकी समझ के दायरे से बाहर रहता है। विचारक का अवलोकन केवल संबंध में ही किया जा सकता है, और समझने के लिए प्रेम आवश्यक है। प्रेम के बिना खोज होती ही नहीं।

प्रश्न: आप ईश्वर का जिक्र कभी नहीं करते। क्या आपकी शिक्षाओं में उसका कोई स्थान नहीं है?

कृष्णमूर्ति : आप ईश्वर के विषय में बहुत चर्चा करते हैं, करते हैं न? आपकी किताबें इससे भरी हुई हैं। आप गिरजे बनाते हैं, मंदिर बनाते हैं, आप त्याग और बलिदान करते हैं, आप पूजा-पाठ करते हैं, अनुष्ठान आयोजित करते हैं और आप ईश्वर विषयक धारणाओं से भरे पड़े हैं, हैं कि नहीं? आप यह शब्द तो दोहरा लेते हैं, पर आपके कर्म तो ईश्वरीय नहीं हैं, या हैं? यद्यपि जिसे आप ईश्वर कहते हैं, उसकी आप उपासना करते हैं, आपके तौर-तरीके, आपके विचार, आपका अस्तित्व ईश्वरीय नहीं हैं, क्या हैं? हालांकि आप ईश्वर शब्द दोहराते रहते हैं, तो भी आप दूसरों का शोषण किया करते हैं, क्या आप ऐसा नहीं करते? आपके अपने-अपने ईश्वर हैं--हिंदू, मुस्लिम, ईसाई और बाकी सारे। आप मंदिर बनवाते हैं, आप जितने ज्यादा अमीर होते जाते हैं, उतने ज्यादा मंदिर बनवाने लगते हैं। (हंसी) हंसिए मत, आप खुद भी यही कर रहे होते, बाकी फिलहाल आप अमीर होने की कोशिशों में लगे हैं, फर्क बस इतना ही है।

तो आप ईश्वर से खूब परिचित हैं, कम से कम इस शब्द से तो हैं ही; पर यह शब्द तो ईश्वर नहीं है, शब्द वह वस्तु नहीं होता है। हम इस मुद्दे पर पूरी तरह से स्पष्ट हो लें। यह शब्द ईश्वर नहीं है। आप ईश्वर शब्द का अथवा किसी अन्य शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, किंतु ईश्वर वह शब्द नहीं है जिसका प्रयोग आप कर रहे हैं। चूंकि आप इसका प्रयोग कर लेते हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि आप ईश्वर को जानते हैं, आप सिर्फ इस शब्द को जानते हैं। मैं इस शब्द का इस्तेमाल नहीं करता, इसकी बड़ी साफ

वजह है कि आप इसे जानते हैं। जो आप जानते हैं, वह यथार्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त, यथार्थ का पता लगाने के लिए मन की सारी शाब्दिक बड़बड़ का बंद होना जरूरी है, नहीं? आपके यहां ईश्वर की प्रतिमाएं हैं, किंतु निश्चित ही वह प्रतिमा ईश्वर नहीं है। आप ईश्वर को कैसे जान पाएंगे? ज़ाहिर है, किसी मूर्ति के, किसी मंदिर के ज़रिये तो नहीं। ईश्वर को, अज्ञात को ग्रहण करने के लिए मन को भी अज्ञात हो जाना होता है। यदि आप ईश्वर की तलाश में हैं, तो आप ईश्वर को पहले से ही जानते हैं, आप उस लक्ष्य से अवगत हैं। यदि आप ईश्वर को ढूंढ रहे हैं, तो आप जानते ही होंगे कि ईश्वर क्या है, नहीं तो आप उसे ढूंढते ही नहीं, या ढूंढते? आप उसे या तो अपनी पुस्तकों के मुताबिक ढूंढते हैं, या अपनी भावनाओं के अनुरूप ढूंढते हैं, और आपकी भावनाएं आपकी स्मृति की प्रतिक्रियाएं मात्र हैं। इसलिए जिसे आप ढूंढ रहे हैं, वह पहले से ही गढ़ लिया गया है, या तो स्मृति के द्वारा, या सुनी-सुनाई बात के द्वारा, और जो पूर्वनिर्मित है, वह शाश्वत नहीं है--वह तो मन की ही उपज है।

अगर किताबें नहीं होतीं, गुरु नहीं होते, दोहराने के लिए सूत्र नहीं होते, तो आपको पता होता केवल दुःख और प्रसन्नता का--यही होता न?--लगातार दुःख और परेशानियां एवं प्रसन्नता के कुछ विरल क्षण। और तब आप जानना चाहते कि आपको दुःख होता क्यों है। पर आप ईश्वर में पलायन नहीं कर पाते--लेकिन शायद आप दूसरे तरीकों से पलायन करने लगते, और शीघ्र ही पलायन के रूप में देवताओं का आविष्कार कर लेते। किंतु यदि आप दुःख की समग्र प्रक्रिया को वस्तुतः समझना चाहते हैं, एक नूतन मानव की तरह, एक नए खिले इंसान की तरह, पलायन नहीं बल्कि जांच-परख करते हुए, तब आप स्वयं को दुःख से मुक्त कर लेंगे, तब आप खोज लेंगे कि यथार्थ क्या है, ईश्वर क्या है। पर जो मनुष्य दुःख से ग्रस्त है, वह ईश्वर अथवा यथार्थ को नहीं खोज पाता; यथार्थ को तभी खोजा-पाया जा सकता है, जब दुःख का अंत हो जाता है, जब प्रसन्नता विद्यमान होती है, तुलना की जा सकने वाली विषमता के रूप में नहीं, विपरीत के रूप में नहीं, अपितु वह तो एक ऐसी अवस्था है, जिसमें विपरीत हैं ही नहीं।

अतः अज्ञात, वह जिसकी सृष्टि मन ने नहीं की है, मन द्वारा प्रतिपादित, सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता। वह जो कि अज्ञात है, उसके बारे में सोचा नहीं जा सकता। जिस क्षण आप अज्ञात के विषय में सोचने लगते हैं, यह ज्ञात ही होता है। निश्चित ही, आप अज्ञात के विषय में विचार नहीं कर सकते, कर सकते हैं क्या? आप विचार केवल ज्ञात के ही बारे में कर सकते हैं। विचार की गति ज्ञात से ज्ञात की ओर ही होती है; और जो ज्ञात है, वह यथार्थ नहीं है। तो जब आप सोचते और ध्यान करते हैं, जब आप बैठ जाते हैं और ईश्वर के विषय में विचार करने लगते हैं, तब आप उसी के विषय में विचार कर रहे होते हैं, जो ज्ञात है, वह समय में है, वह समय के जाल में आबद्ध है, अतएव वह यथार्थ नहीं है। यथार्थ केवल तभी अस्तित्व में आ सकता है, जब मन समय के जाल से मुक्त हो जाता है। जब मन सर्जन करना बंद कर देता है, तब सर्जन होता है। तात्पर्य यह कि मन का पूर्णरूपेण स्थिर होना, निश्चल होना ज़रूरी है, लेकिन वह उकसाई गई तथा सम्मोहनजन्य स्थिरता नहीं होनी चाहिए, वह तो मात्र एक परिणाम ही होगी। यथार्थ का अनुभव करने के लिए स्थिर बनने की कोशिश करना पलायन का ही एक और रूप है। शांति, स्थिरता तभी होती है, जब सारी समस्याएं समाप्त हो चुकी होती हैं। जैसे समीर के थमने पर सरोवर शांत हो जाता है, वैसे ही मन स्वाभाविक रूप से मौन, शांत हो जाता है, जब बेचैन करने वाला, विचारक नहीं रहता। विचारक के अंत हेतु, वे सभी विचार जिनका वह निर्माण कर रहा है, सोच लिए जाने जरूरी हैं। विचार का प्रतिरोध करने से, उसके खिलाफ प्रतिरोध खड़े करने से कुछ होने वाला नहीं है, क्योंकि सभी विचारों को अनुभूत कर लेना, महसूस कर लेना आवश्यक है।

जब मन स्थिर, प्रशांत होता है, तो यथार्थ, वह अनिर्वचनीय प्रकट होता है। आप इसे निर्मंत्रित नहीं कर सकते। इसे निर्मंत्रित करने के लिए तो आपका इसे जानना ज़रूरी होगा, और जो जाना हुआ है, ज्ञात है, वह यथार्थ नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि मन सरल हो, विश्वासों से, कल्पित धारणाओं से लदा हुआ न हो। और जब स्थिरता होती है, जब कोई इच्छा, कोई ललक नहीं रहती, जब ऐसी स्थिरता सहित, जिसे प्रवृत्त नहीं किया गया है, लादा नहीं गया है, मन खामोश होता है, तब यथार्थ का आगमन होता है। एवं वह सत्य, वह यथार्थ ही एकमात्र रूपांतरकारी तत्त्व है, केवल यही वह कारक है, जो हमारे अस्तित्व में, हमारे दैनिक जीवन में एक आधारभूत, आमूल क्रांति ले आता है। और उस यथार्थ को पाने के लिए उसे खोजना नहीं पड़ता, बल्कि उन कारकों को समझ लेना होता है, जो मन को उद्वेलित, बेचैन करते रहते हैं, जो खुद मन ही को क्षुब्ध, अशांत कर दिया करते हैं। तब मन सरल, मौन, स्थिर होता है। उस स्थिरता में वह अज्ञात, वह अविज्ञेय आविर्भूत होता है। और जब ऐसा होता है, तो आशीर्वाद होता है, स्वस्ति होती है।

मुंबई] 8 फरवरी 1948